हिन्दी दलित लेखन: उद्भव एवं विकास

बजरंग बिहारी तिवारी

ऐतिहासिक दबावों और सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप साहित्य-जगत में नई धाराओं, प्रवृत्तियों, आंदोलनों का उदय होता रहता है। साहित्य की गतिशीलता का यह सबसे बड़ा कारण है। किसी लेखक-विशेष के कारण साहित्य में युगान्तर नहीं होता। युगान्तर होता है ठोस भौतिक परिस्थितियों में आने वाले परिवर्तनों के आधार पर। लेखक भी अन्ततः अपने समय व समाज की उपज है इसलिए उसके योगदान का विश्लेषण करते समय समग्र परिवेश को ध्यान में रखना आवश्यक ठहरता है। दलित आंदोलन के संबंध में यह बात पूरी तरह लागू होती है। दलित विमर्श उस समाज-व्यवस्था की देन है जिसमें जाति और वर्ण के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में अन्तर किया जाता है और समाज के एक बड़े तबके को अछूत मान लिया जाता है। इस समाज-व्यवस्था ने 'उच्च वर्ण' को सभी संभव सुविधाएं व अधिकार प्रदान किए तथा निम्न वर्ण व वर्णेतर समुदाय को अधिकारहीन रखकर सेवा तक सीमित कर दिया। अन्याय और अत्याचार का यह सिलसिला शताब्दियों तक जारी रहा। इस अमानवीयता का विरोध भी लगातार होता रहा। कभी संगठित रूप में तो कभी टपुट तरीके से। आधुनिक काल में आकर इस विरोध ने एक नई शक्ल अख्तियार की, अपने लिए नया नाम चुना और व्यवस्था परिवर्तन की बात की। प्रतिरोधी जमात ने शूद्र, अन्त्यज, अछूत, पंचमवर्ण, हरिजन, आदि शब्दों को नकार कर 'दलित' शब्द अपनाया और तथाकथित उच्च जाति के लोगों से रियायत माँगने के स्थान पर समाज के आमूल परिवर्तन की माँग उठायी। यह माँग राजनीति में उठी और साहित्य में भी। दलित साहित्यकारों ने विद्रोह और आक्रोश भरी रचनाओं के जरिए स्वतंत्रता, समानता और न्याय का स्वर बुलन्द किया तथा दलित समुदाय में आत्मगौरव का भाव भरने का अभियान चलाया। पहले तो दलित-विमर्श की चर्चा परिशिष्ट के तौर पर एक मामूली प्रवृत्ति के रूप में की जाती थी लेकिन दलित लेखकों की बढ़ती संख्या, सर्जनात्मकता में गुणात्मक सुधार और व्यापक स्वीकृति के चलते यह मुख्य विमर्श बन गया। आज दलित-विमर्श की चर्चा के बिना कोई भी साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम अधूरा माना जाता है। दलित-विमर्श ने अपनी शक्ति के बल पर यह जगह बनाई है। प्रारंभ में ऐसा लगता था कि उसे थोड़ी छूट देकर आगे बढ़ाया जा रहा है। पर, अब यह विमर्श हिन्दी या किसी एक भारतीय भाषा तक सीमित नहीं है। इसका स्वरूप अखिल भारतीय है और इसकी व्याप्ति हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य धर्म समाजों में भी है।

वर्तमान को समझने के लिए अतीत को समझना ज़रूरी होता है। दलित-विमर्श का भी अपना इतिहास है। यह विमर्श अपने वर्तमान रूप में भले ही उन्नीसवीं शताब्दी के बाद अस्तित्व में आया हो लेकिन उसकी जड़ें सुदूर अतीत तक जाती हैं। दलित विमर्शकारों ने इन स्रोतों पर रोशनी डाली है और उन्हें अपने चिंतन का विषय बनाया है। असल में, दलित-विमर्श का संबंध वर्ण-जाति व्यवस्था के अस्वीकार से है। यह अस्वीकार बहुत पहले से चला आ रहा है। शायद तब से जब से यह समाज-व्यवस्था अस्तित्व में आई है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में आए एक सूक्त के अनुसार आदि पुरुष/ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से राजन्य (क्षत्रिय), उरु से वैश्य और पाँव से शूद्र उत्पन्न हुए। इस सूक्त को प्रक्षिप्त माना जाता है। प्रक्षिप्त का आशय है कि यह मूल ऋग्वेद में नहीं था। बाद में जोड़ा गया। जो भी हो, वैदिक समाज दर्शन में वेद और ब्राह्मण को सर्वोच्चता प्राप्त है। लेकिन, इस सर्वोच्चता को प्राचीन काल से ही चुनौती मिलती रही है। प्राचीन संप्रदायों में से एक लोकायत संप्रदाय या चार्वाक मत ने संभवतः सबसे पहले वैदिक व्यवस्था को प्रश्नों के घेरे में लाने की कोशिश की। यह अलग बात है कि लोकायत संप्रदाय बहुत व्यापक व दीर्घजीवी नहीं हो पाया। लेकिन, उसके बाद दूसरे मतों का उदय हुआ। उन्होंने प्रतिरोध की इस परंपरा को बनाए रखा। इन मतों में बौद्ध मत सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी धर्म, दर्शन और विचार के क्षेत्रों में बहुत हलचलों भरी है। इस वक्त तमाम मतों का अभ्युदय हुआ। इनमें जैन मत व बौद्ध मत बहुत प्रभावशाली साबित हुए। जैन मत का विकास महावीर स्वामी ने किया जबकि बौद्ध मत के प्रवर्तक गौतम बुद्ध थे। गौतम बुद्ध क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। उनका दर्शन करुणा पर आधारित था। उन्होंने जन्माधारित वर्णवाद का खंडन किया और बौद्ध संघ में अवर्णों को भी स्थान दिया। गौतम बुद्ध के बाद अशोक के शासनकाल में यह मत तेजी से फैला और इसने दूसरे देशों में भी स्वीकृति पाई। बौद्ध दार्शनिकों की एक मजबूत परंपरा निर्मित हुई जिसने ब्राह्मण मत का ज़ोरदार खंडन किया। धर्मकीर्ति, नागार्जुन, दिङ्नाग आदि दार्शनिक इसी परंपरा के थे। बौद्ध मत की इसी हिन्दी क्रांतिकारी भूमिका को पहचान करा बाबा साहेब ने 1956 में इस धम्म की दीक्षा ली थी। दलित साहित्य में बुद्ध की करुणा और मानवमात्रा की समानता में उनके दृढ़ विश्वास का जिक्र बार-बार आता है। सातवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध मत अपनी मातृभूमि से लगभग गायब हो गया। उसके विलुप्त होने के कई कारणों में से एक कारण ब्राह्मण मतानुयायी राजाओं की क्रूरतापूर्ण कार्रवाइयाँ थीं। लेकिन बौद्ध मत का पूर्ण विलोप भी नहीं हुआ। वह सिद्धमत/सहजयान/तंत्रायान के रूप में बचा रह गया। सिद्धमत के पुरस्कर्ता सरहपा थे। सरहपा को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने हिन्दी का पहला कवि कहा है। सरहपा का पूर्व नाम राहुल भद्र था। सरहपा की आलोचनात्मक प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। अपने 'दोहा कोश' नामक ग्रन्थ के शुरू में सरहपा ने उस वक्त के सभी धर्म-मतों की तीखी आलोचना की है। ब्राह्मण मत की आलोचना करते हुए वे कहते हैं: 'ब्राह्मण अविवेकी हैं, भेद नहीं जानते। व्यर्थ ही

चारों वेद पढ़े हैं। मिट्टी, पानी और कुश लेकर मंत्र पढ़ते हैं और घर में बैठकर आग में हवन करते हैं। हवन अकारज होते है। कड़घए धुएँ से आँखें जलती हैं। वे भगवा भेष धारे एक दण्डी, त्रिदण्डी ज्ञानी बनकर उपदेश देते हैं। उन्हें तो धर्म-अधर्म का फर्क ही नहीं मालूम।'

सरहपा की बहुत सी बातें कबीर की बानियों में ज्यों की त्यों मिलती हैं। नाथों की भूमिका भी वर्ण धर्म के प्रतिकूल रही। गोरखनाथ की बानियाँ सादगीपूर्ण जीवन का पक्ष लेती हैं। भक्ति आंदोलन भारत की प्रतिरोधी परंपरा का ऐतिहासिक दौर है। भक्ति आंदोलन अपने प्रारम्भिक रूप में भक्ति को लेकर नहीं, सामाजिक आलोचना को लेकर चला था। जिसे हम आज निर्गुण परंपरा कहते हैं उसके अधिकांश रचनाकार अवर्ण तबकों से आए थे। इनमें कबीर (जुलाहे), रैदास या रविदास (चर्मकार), सेन (नाई), सदना (कसाई), दादू (धुनिया), आदि थे। आज की दलित कविता का पूर्ववर्ती रूप इन कवियों के यहाँ देखा जा सकता है। डॉ. अम्बेडकर तो कबीर की गिनती अपने गुरुओं में करते थे। समकालीन दलित-विमर्श में कबीर और रैदास को केन्द्रीयता मिलने की सबसे बड़ी वजह उनका स्वाभिमानयुक्त व्यक्तित्व है। भक्ति आंदोलन ने जिन सवालों को उठाया वे जाति वर्चस्व की समाप्ति के लक्ष्य से उपजे थे। इस युग के प्रायः सभी कवि धर्म की जकड़बन्दी का विरोध करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

दलित समाज में जागृति लाने और सम्पूर्ण समाज में मानवीय गरिमा तथा स्वाभिमान का आंदोलन छेड़ने में फुले-अम्बेडकर का अभूतपूर्व योगदान रहा। ज्योतिबा फुले (1827–1890) तथा बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर (1891–1956) ने अपना पूरा जीवन वर्ण जाति के खात्मे व जनतांत्रिक समाज की रचना में लगा दिया। बाबा साहेब ने जिन व्यक्तियों से प्रेरणा हासिल की थी ज्योतिबा फुले उनमें से एक थे। फुले ने एक साथ कई भूमिकाएँ अदा कीं। वे एक लेखक थे, समाजकर्मी थे और शिक्षक थे। फुले की रचनाओं में शोषक तबके के खिलाफ जबरदस्त आक्रोश है। उनकी प्रमुख रचनाओं में *ब्राह्मण की चालाकी* (1869), *गुलामगीरी* (1873), *किसान का कोड़ा* (1883) उल्लेखनीय हैं। फुले ने 'सत्यशोधक समाज' (1873), की स्थापना की। फुले और उनकी जीवन संगिनी सावित्री बाई फुले ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए स्कूल खोले और अनेक हमले झेलते हुए अपना अभियान जारी रखा। कालान्तर में उसे बाबा साहेब ने अपने ढंग से आगे बढ़ाया। सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों को भीमराव ने न सिर्फ देखा था बल्कि लगातार झेला भी था। इसका प्रतिकार करने के लिए उन्होंने दलित समुदाय को जाग्रत करने का अथक प्रयास किया। डॉ. अम्बेडकर की प्रमुख किताबों में *भारत में क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति, हिन्दूधर्म की*

पहेलियाँ, शूद्र कौन थे, बुद्ध और उनका धम्म, जाति प्रथा का उन्मूलन, आदि हैं। उनके द्वारा चलाए गए प्रमुख आंदोलनों में महाड़ सत्याग्रह (1927) तथा नासिक कालाराम मन्दिर प्रवेश (1930) के नाम लिये जा सकते हैं।

दलित रचनाकारों के यहाँ इन दोनों आंदोलनों के संदर्भ प्रायः मिलते हैं। बाबा साहेब की हर गतिविधि को दलित साहित्यकारों ने लिपिबद्ध किया है और उन्हें अपना पथ-प्रदर्शक माना है। चर्चित दलित रचनाकार सुशीला टाकभौरे की पंक्तियों में बाबा साहेब को यूँ याद किया गया है:

दलित अछूत ढूँढ़ रहे थे
पीड़ाओं से मुक्ति का मार्ग
अंधेरे में आशा का प्रकाश
जिससे विश्वास कर सकें
दुनिया उनकी भी है
उन्हें भी जीने का हक है।
दलितों के मसीहा बाबा साहेब ने
राह दिखाई है।
विद्रोह आंदोलन और क्रान्ति से
पा सके हैं वे अपने अधिकार
मुक्ति का मार्ग| (*टाकभौरे* 2004:43)

आज़ादी प्राप्ति के नौ साल बाद बाबा साहेब की मृत्यु हुई। बाबा साहेब ने दो शत्रुओं की शिनाख्त करवाई थी: पूँजीवाद और ब्राह्मणवाद। उनकी सारी ज़िंदगी इनसे लड़ते बीती। बाबा साहेब की मृत्यु के समय पहली पंचवर्षीय योजना बीत चुकी थी और दूसरी चल रही थी। भारतीय जनता से जो वायदे किए गए थे वे पूरे होते नहीं दिख रहे थे। ऐसे में बड़े पैमाने पर असंतोष बढ़ना स्वाभाविक था। हिन्दी कविता में साठोत्तरी काल को विद्रोही पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, आदि नाम दिए गए हैं। इस दौर के दलित साहित्य में कुछ इसी तरह की पीढ़ी आई थी। आज़ादी के खोखलेपन को उद्घाटित करती, ब्राह्मणशाही के आतंक को बयान करती इस पीढ़ी का प्रतिनिधि स्वर मराठी दलित कवि नामदेव ढसाल के यहाँ सुना जा सकता है। ढसाल की कविता पुस्तक *गोलपिठा* की कुछ पंक्तियाँ हैं:

क्या मृत्यु तक बने रहेंगे ऐसे ही युद्धबंदी
वह देखो रे वह देखो,
मिट्टी की अस्मिता भी आसमान में फैल चुकी है।
मेरे प्राणों ने भी जिंदाबाद की गर्जना की है
लहू में जल उठे हैं अनगिनत सूर्य।
अब इन शहरों को आग लगाते चलो।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, दलित रचनाकारों की एक पीढ़ी आज़ादी के अधूरेपन को, खंडित विश्वासों को, ब्राह्मणशाही-सामन्तशाही-पूँजीपतियों के गठजोड़ को अनावृत करते हुए उभरी थी। इस पीढ़ी में जबरदस्त जज़्बा था। समाज-व्यवस्था को रातों-रात बदल देने की बेकली थी। अपने भाई बंधुओं को अत्याचारों से बचाने की दृढ़ता थी। उन्होंने सवर्ण संस्कृति की पड़ताल की। उसकी दुरभिसंधियों को पहचाना। पौराणिक-धार्मिक मिथकों पर प्रहार किया। दलित समुदाय में आत्मविश्वास भरने की कोशिश की। तमाम सीमाओं के बावजूद उनकी कोशिशों का गहरा असर दिखाई पड़ा।

जिन दिनों बाबा साहेब का संघर्ष महाराष्ट्र की ज़मीन पर चल रहा था उन्हीं दिनों हिन्दी क्षेत्र में भी दलित समुदाय के चिंतक-लेखक नए सिरे से संगठित और सक्रिय हो रहे थे। इनकी आवाज़ में पूरे समुदाय की सम्मिलित आकांक्षा प्रतिध्वनित थी। बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे दशक में सक्रिय ऐसे दलित रचनाकारों में हीरा डोम, अछूतानंद हरिहर, केवलानन्द, आदि हैं। हीरा डोम की एक ही कविता आज प्राप्त है। 'अछूत की शिकायत' शीर्षक से यह कविता 'सरस्वती' पत्रिका में वर्ष 1914 में छपी थी। अछूतानन्द हरिहर ने दलितों के लिए 'आदि हिन्दू आंदोलन' चलाया था। लोक छन्दों में रचना करने वाले अछूतानन्द डॉ. अम्बेडकर की लेखनी से परिचित और उनके कार्यों से प्रेरित प्रभावित थे। अछूतानन्द की मनुस्मृति पर लिखी कविता की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:

निसिदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है।
ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है।
हमको बिना मजूरी, बैलों के संग जोते,
गाली व मार उस पर हमको दिला रही है।

स्वामी अछूतानन्द ने गीतों-गजलों के अतिरिक्त नाटक भी लिखे। उनका लिखा नाटक *मायानन्द बलिदान* (1926) उल्लेखनीय है। यह नाटक गुजरात की एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। बारहवीं सदी में अछूत परिवार में जन्मे सन्त मायानंद ने अपना बलिदान देकर अपने समुदाय को यथासंभव आज़ादी दिलाई थी। ऐसे बलिदानियों को याद करना आत्मगौरव की भावना मजबूत करने के लिए बहुत ज़रूरी है।

हिन्दी में दलित लेखन का दूसरा चरण 1950 से लेकर 1990 तक है। इस दौर के लेखन का मुख्य ज़ोर दलित समुदाय को अपने अतीत व वर्तमान के प्रति सजग करना है। लेखकों के सामने डॉ. अम्बेडकर का उदाहरण है जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी हिम्मत नहीं हारी और ज्ञान तथा शिक्षा के उच्चतम सोपान तक पहुँचे। डॉ. अम्बेडकर ने दलित समुदाय को तीन सूत्रीय सन्देश दिया था: शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो। दलित लेखन ने इन सूत्रों को आधार बनाया और उनके संदेश को जन-जन तक ले जाने का प्रयास किया। इसी चरण में बाबा साहेब के जीवन पर आधारित तीन प्रबंध काव्य हिन्दी में प्रकाशित हुए-'भीमायण' (बिहारी लाल हरित, 1973), 'भीम सागर' (लक्ष्मीनारायण सुधारक, 1985) तथा 'भीम कथामृतम्' (रामदास निमेष, 1990)| इन रचनाओं में तार्किकता और वैज्ञानिकता के साथ श्रद्धा और अंधश्रद्धा का पुट भी है। पारंपरिक दलित समुदाय की मानसिकता में पैठ बनाने की यह आसान युक्ति समझी गई होगी। इस दौरान दलित रचनाकारों ने दलित समाज पर होने वाले अत्याचारों को भी अपनी कविता का विषय बनाया।

दलित साहित्यकारों ने 'कला' की विशेष परवाह नहीं की। साहित्य उनके लिए उत्पीड़न के अनवरत सिलसिले को जानने और रोकने का माध्यम बना। 'निर्णायक भीम' पत्रिका के अप्रैल-मार्च 1981 अंक में छपी ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में इसी सच के दर्शन होते हैं:

मेरे जिस्म के मानचित्र पर
उभर रहे हैं
बनकर फफोले,
कहीं 'बेलछी'
तो कहीं 'शेरपुर'
कहीं 'पारसबिघा'

तो कहीं ‘नारायणपुर’
इन फफोलों को सहलाने के लिए
मेरे हाथ मेरे पास नहीं हैं
वह तो बहुत पहले,
मेरे बाप-दादों ने रख दिए थे गिरवी
किसी सेठ साहूकार की तिजोरी में
दो मुट्ठी चावल के बदले।

इस कविता में आए बेलछी, शेरपुर, पारसबिघा, नारायणपुर वे स्थल हैं जहाँ दलित समुदाय पर कहर बरपाए गए। बिहार के गाँव बेलछी में दिसंबर 1980 में 11 दलितों को जिंदा जला दिया गया था। इसी तरह से अन्य जगहों पर भी दलितों पर प्राणघातक हमले हुए और उनकी झोंपड़ियों को आग के हवाले किया गया। दलित साहित्य में आक्रोश की अधिकता बेवजह नहीं है। ज्योतिबा फुले और डॉ. भीमराव अम्बेडकर की कर्मभूमि महाराष्ट्र रही। महाराष्ट्र समाज सुधार आंदोलनों और परिवर्तनवादी लेखन के मामले में अन्य प्रान्तों से अपेक्षाकृत आगे रहा। हिन्दी के दलित लेखन पर इसीलिए मराठी दलित लेखन का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। लेकिन, प्रभाव का अर्थ अनुकरण नहीं समझना चाहिए। हिन्दी के दलित रचनाकारों ने मराठी दलित लेखकों से प्रेरणा और दिशा प्राप्त की और सिर्फ हिन्दी ही नहीं अन्य तमाम भारतीय भाषाओं मसलन गुजराती, तेलगु, तमिल, कन्नड़, पंजाबी, आदि भाषाओं के दलित लेखकों पर मराठी प्रभाव पड़ा। मराठी के आंदोलनधर्मी दलित युवा लेखकों ने ‘दलित पैंथर’ का निर्माण किया। दलित पैंथर का घोषणापत्रा 1973 में आया। अपनी स्थापना के एक वर्ष बाद। दलित पैंथर ने अपने शुरुआती दिनों में महाराष्ट्र के गाँव-गाँव में बहुत सघन प्रतिरोधी अभियान चलाए। पैंथर के कार्यकर्ताओं ने सभी तरह के अन्याय-अत्याचार का जमकर विरोध किया। पैंथर के घोषणापत्रों से दलित साहित्य के बारे में एक मुकम्मल दृष्टि बनी। इन सबका असर हिन्दी के दलित लेखकों पर भी पड़ा। वरिष्ठ दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि की चर्चित कृति *जूठन* (आत्मकथन) में इसका ब्योरा मिलता है। वाल्मीकि जी मराठी के दलित लेखकों से बहुत प्रभावित हुए थे। दूसरे लेखकों ने भी किसी न किसी रूप में अपने लेखकीय व्यक्तित्व पर मराठी दलित लेखन का असर स्वीकार किया है। दलित लेखन को व्यापक चर्चा में लाने का कार्य ‘सारिका’ पत्रिका ने किया। इसके संपादक कमलेश्वर ने 1975 में अप्रैल और मई अंक मराठी दलित लेखन को समर्पित किए। इस पत्रिका के माध्यम से बाबूराव बागूल, दया पवार, अर्जुन डांगले, अरुण कांवले, बंधु माधव, प्रा.ई. सोन कांवले से हिन्दी पाठकों को परिचित कराया गया और दलित रचनात्मकता की शक्ति का अहसास भी कराया गया। इसके बाद कथाकार, सम्पादक महीप सिंह ने ‘संचेतना’ पत्रिका का चौथा अंक दिसम्बर 1981 में प्रकाशित किया। यह अंक ‘मराठी

दलित साहित्य विशेषांक' के रूप में निकला। इसमें करीब पच्चीस रचनाकार शामिल किए गए। इससे हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा को व्यापकता तथा कुछ हद तक स्वीकृति मिली। मराठी की दलित रचनाओं को साहित्यिक बहसों में शामिल किया जाने लगा। हिन्दी के दलित रचनाकारों में इससे नया जोश आया। सन् 1990 तक आते-आते राष्ट्रीय परिदृश्य पर बहुत से बदलाव घटित हुए।

इन बदलावों में मुख्य हैंः

1. सरकारी नौकरियों में अन्य पिछड़ी जातियों के आरक्षण हेतु मंडल कमीशन की सिफारिशें लागू की गईं। आरक्षण व्यवस्था का बड़े पैमाने पर उग्र विरोध किया गया। देश की 'सवर्ण जमात' ने राष्ट्रीय व सार्वजनिक संपत्तियों पर हमले बोले और करोड़ों की संपत्ति नष्ट कर दी। दलितों तथा पिछड़े तबकों पर भी हिंसक आक्रमण किए गए। मजबूरन इन तबकों को आत्मरक्षार्थ उग्र तेवर अपनाना पड़ा। जगह-जगह हिंसक झड़पें होने लगीं। इस स्थिति ने समाज की वास्तविकता को सामने ला दिया।

2. देश में उग्र धार्मिकता का आगमन हुआ। अयोध्या में राम जन्मभूमि को मुक्त कराने के नाम पर एक वर्ग संगठित हुआ। राजनीतिक दलों ने सांप्रदायिक भावना को सत्ता-प्राप्ति का जरिया बनाया। इससे सांप्रदायिक दंगे भड़काए गए। जान-माल की बड़ी क्षति हुई। समाज का धार्मिक ताना बाना दरकने लगा। गृहयुद्ध की आशंका की जाने लगी। दलित बुद्धिजीवियों की नजर में यह सब सवर्ण हिन्दुओं की साजिश के चलते हुआ। इस साजिश का मकसद अपना वर्चस्व बनाए रखना था।

3. भारत वैश्वीकरण और आर्थिक उदारीकरण की दौड़ में शामिल हुआ। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए द्वार खोल दिए गए। सार्वजनिक उपक्रमों का निजीकरण शुरू किया गया। समतावादी लेखकों, विचारकों ने इस स्थिति को आर्थिक और सामाजिक गैर बराबरी बढ़ाने वाला करार दिया। माना गया कि पारंपरिक वर्चस्वशाली वर्ग शासन व्यवस्था और अर्थ-सत्ता पर अपना एकाधिकार बनाए रखने के लिए ऐसा कर रहा है। दलित साहित्य पर इन तीनों ही स्थितियों का गहरा असर दिखाई पड़ा। दलित रचनाकारों ने अपना पक्ष स्पष्ट किया और वे सामाजिक जनतंत्र के मार्ग में आने वाली बाधाओं को पहचानने तथा उन्हें अपनी लेखनी का विषय बनाने में जुटे रहे।

स्थानीयता पर दृढ़ता से पाँव टिकाकर उन्होंने अपने सरोकारों को राष्ट्रीय और वैश्विक परिप्रेक्ष्य में जाँचा-परखा। पुरानी पीढ़ी से प्रेरणा लेती हुई दलित लेखकों की नई पीढ़ी सामने आई। इस पीढ़ी के प्रमुख हस्ताक्षरों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, कुसुम मेघवाल, कर्मशील भारती, जयप्रकाश कर्दम, विपिन बिहारी, जयप्रकाश लीलवान आदि हैं। इस सूची में दिन-ब-दिन नए नाम जुड़ते जा रहे हैं। इस वक्त संभावनाशील दलित लेखकों की एक भरी-पूरी टीम सक्रिय है और सामाजिक परिवर्तन के संकल्प के साथ आगे बढ़ रही है।

आंदोलनधर्मी होने के साथ दलित-लेखन बहसधर्मी भी है। इसने एक तरफ सवर्ण-सत्ता से, उसके लेखकों/ साहित्यकारों से बहस छेड़ी है तो दूसरी तरफ खुद से बहस का भी मुद्दा दिखाया है। दलित साहित्य पर जो आक्षेप लगे उनका उत्तर देने में एक किस्म की बहस शुरू हुई तो दलित विमर्शकारों ने कुछ मुद्दों पर मत वैभिन्न के चलते दूसरी किस्म की आंतरिक बहस प्रारंभ की। इन बहसों से दलित साहित्य का स्वरूप निश्चित होता रहा और उसकी दिशा भी संकेतित होती रही। इस क्रम में हम यहाँ कुछ केन्द्रीय बहसों की चर्चा करेंगे|

दलित कौन? यह दलित-विमर्श की आधारभूत बहस है। शब्दकोशीय अर्थ के अनुसार दलित शब्द का आशय है- जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, उत्पीड़ित, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, विनष्ट, मर्दित, पस्तहिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि। (वाल्मीकि 2001:13) जाहिर है, उक्त सूची दलित शब्द का बहुत व्यापक अर्थ प्रस्तुत करती है। जिस प्रसंग में यह शब्द प्रयुक्त किया जाता है वहाँ इसका अर्थ इतना विस्तृत नहीं है। दलित शब्द प्राचीन हो सकता है, मगर उसका प्रयोग नया है। दलित शब्द एक सामाजिक स्थिति का सूचक है। संस्कृति के ऐतिहासिक विकास क्रम की एक अवस्था विशेष में व्यवहृत हुआ है। इसका संबंध भारत की जाति-व्यवस्था से है। यहाँ हम दलित चिंतक कंवल भारती को उद्धृत कर सकते हैं जिनका मंतव्य आम सहमति व्यक्त करता है: 'दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की।

वही दलित है, और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियां कहा जाता है।' (वाल्मीकि 2001:13)

कंवल भारती की इस परिभाषा से दलित शब्द का समकालीन अर्थ निश्चित हो जाता है। दलित वर्णव्यवस्था के बाहर पड़ते हैं। उन्हें अतिशूद्र, पंचम, अंत्यज, आदि नाम दिए गए हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये वर्णव्यवस्था के भीतर हैं। जो इस दायरे से बहिष्कृत हैं वह दलित हैं। संविधान में बाबा साहेब अम्बेडकर ने इन्हें अनुसूचित जाति के अंतर्गत रखा है। बाबा साहेब अनुसूचित जाति के लिए 'डिप्रेस्ड क्लासेज' का प्रयोग करते थे। 'अनटचेबल्स' या 'अछूत' शब्द का व्यवहार भी उन्होंने किया है। 'दलित' शब्द का प्रयोग बाबा साहेब के परिनिर्वाण के बाद चलन में आया। जानकारों के अनुसार बाबा साहेब ने अपने जीवनकाल में दो-तीन बार ही इस शब्द का इस्तेमाल किया था। 'दलित पैंथर' के घोषणा पत्र में 'दलित' के भीतर इन लोगों को रखा गया है: 'अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्य, नवबौद्ध, मजदूर लोग, भूमिहीन तथा गरीब कृषक, महिलाएँ तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एवं राजनैतिक तथा आर्थिक तौर पर शोषित किया जा रहा है।' (कुमार 2006:86)

पैंथर ने अपने वाम रुझान के चलते दलित शब्द का व्यापक अर्थ लिया। आम तौर पर दलित की परिभाषा में वे ही आते हैं जिन्हें जाति के अनुक्रम में सबसे निचले पायदान पर रखा गया है। कुछ अम्बेडकरवादी साहित्यकारों ने 'दलित' शब्द को त्याज्य घोषित किया क्योंकि उनके अनुसार यह शब्द हीनताबोधक है। गौरतलब है कि इस आपत्ति को ज्यादा मान्यता नहीं मिली और इसे बहुत थोड़े बुद्धिजीवियों ने स्वीकार्य माना। इस आपत्ति का प्रत्युत्तर देते हुए कहा गया कि 'दलित' शब्द विद्रोह भाव से पैदा हुआ है और इसमें वर्णव्यवस्था का नकार मुख्य है। गाँधीजी द्वारा चलाए गए 'हरिजन' शब्द को प्रायः सभी दलित लेखकों/ विचारकों ने अस्वीकार किया। इस शब्द को अपमानजनक माना गया। बाद में भारत सरकार ने इस शब्द के इस्तेमाल पर रोक लगा दी। दलित शब्द का अर्थ निश्चित कर लेने के बाद यह जानना शेष रह जाता है कि दलित साहित्य किसे कहते हैं। दलित साहित्य की परिभाषा का प्रश्न पहले नहीं उठा था। इस बात पर सभी सहमत रहे कि जिस रचना में दलित जीवन/ दलित प्रश्न केन्द्रीय हो वह दलित साहित्य है। लेकिन इसका लेखक कौन होगा, बहस इस पर छिड़ी। बहस छेड़ने वाले एक वर्ग ने कहा कि सवर्ण-अवर्ण सभी का लिखा साहित्य दलित साहित्य कहा जा सकता है। दलित साहित्यकारों ने इसे सामाजिक पहचान से जोड़ा। उनका कहना था कि जन्मना दलित ही दलित साहित्य की रचना कर सकता है। जो जन्मना दलित नहीं हैं, जिन्होंने अछूतपन का दंश नहीं झेला है, जो समाज से

उत्पीड़ित, बहिष्कृत नहीं रहे हैं जब वे लिखेंगे तो सहानुभूति के सहारे ही। उनके लिखे में अनुभव का सच नहीं होगा। जिस यथार्थ को उनके द्वारा झेला/भोगा नहीं गया उसे प्रामाणिक रूप से कैसे लिखा जा सकता है? इस कसौटी पर रखकर देखने से दलित साहित्य की परिभाषा का प्रश्न स्वतः हल हो जाता है। दलित साहित्य की व्याख्या करते हुए कंवल भारती का कहना है:

> दलित साहित्य से अभिप्राय उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा है, दलित साहित्य उनकी उसी अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला नहीं, बल्कि जीवन का और जिजीविषा का साहित्य है। इसीलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता है| *(वाल्मीकि 2001:14-15)*

दलित साहित्य की यह उचित और स्वीकार्य व्याख्या है। लेकिन दो बातें और जोड़ी जानी चाहिए। एक तो यह कि दलित समुदाय में पैदा हुए व्यक्ति का कुछ भी लिखा दलित साहित्य नहीं है। दलित साहित्य का संबंध चेतना से है: वह चेतना जो नकार और विद्रोह से बनी हो तथा जिसे अम्बेडकरवाद का आधार प्राप्त हो। दूसरी महत्वपूर्ण बात वरिष्ठ मराठी दलित चिंतक गंगाधर पानतावणे के सहारे कही जा सकती है। पानतावणे जी साहित्य के तीन स्रोत-मानते हैं:

1. स्वयं जान कर, भोगकर प्राप्त किया गया अनुभव, 2. दूसरे को देखकर, समझकर, संवेदना के जरिए प्राप्त ज्ञान, अप्रत्यक्ष अनुभव, तथा 3. कल्पना करके। कल्पना का सच से कोई सीधा रिश्ता नहीं होता। बाकी दो को पानतावणेजी 'जाणीव' तथा 'सहजाणीव' कहते हैं: 'जाणीव से ही दलित साहित्य रचा जा सकता है। लेकिन सहजाणीव (संवेदना) का साहित्य झूठा नहीं होता। वह भी सच है लेकिन अनुभव के ताप से रहित। प्रेमचंद और ओमप्रकाश वाल्मीकि का यही फर्क समझना चाहिए।'[1]

[1] गंगाधर पानतावणे से बजरंग बिहारी की बातचीत, 'कथादेश' पत्रिका, जुलाई, 2008|

दलित-विमर्श में मार्क्सवाद और बौद्ध धर्म का सवाल शुरू से ही विवाद का विषय रहा है। डॉ. अम्बेडकर ने एकाधिक बार इस प्रश्न पर विचार किया था। उन्होंने मार्क्स के तत्व ज्ञान को शोषितों के लिए समाधान कारक कहा| (मून 2006:119) लेकिन मार्क्सवाद में निहित हिंसा की स्वीकृति को उन्होंने खतरनाक कहा। बौद्ध धम्म की करुणा, तर्कशीलता, तथा बुद्धिनिष्ठा से ही भारत के लोगों का व विश्व का कल्याण हो सकता है ऐसी दृढ़ मान्यता उन्होंने बार-बार प्रकट की। हिन्दी के दलित साहित्यकारों ने मार्क्स के दर्शन पर कोई सवाल नहीं उठाए लेकिन उसकी अपूर्णता की बात की। मार्क्सवाद में वर्ग संघर्ष की बात होती है वर्ण संघर्ष की नहीं। दलित विमर्शकारों का ज़ोर भारतीय मार्क्सवादियों की सवर्ण मानसिकता को उद्घाटित करने पर रहा। तथाकथित साम्यवादियों के दोमुँहेपन पर करारी चोट करते हुए कई रचनाएँ दलित लेखकों की कलम से निकलीं। दलित साहित्य की पहचान उसकी 'कला-साधना' से न होकर विषय-वस्तु से हुई। शिल्प और कला का सवाल उसके लिए प्राथमिक नहीं है, प्राथमिक है अन्तर्वस्तु। असल में जब भी कोई परिवर्तनकारी साहित्य रचा जाता है तो वह कलात्मकता की ज्यादा परवाह नहीं करता। उसके लिए विषय या विचार महत्त्वपूर्ण होता है और वह साहित्य के बने-बनाए साँचे से बाहर रखे जाने का जोखिम उठाकर निर्मित किया जाता है। आम तौर से माना जाता है कि साहित्य मनोरंजन या आनन्द के लिए होता है- 'काव्य शास्त्रा विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'। यहाँ विनोद मनोरंजन के पर्याय के रूप में समझा जाता रहा है। लेकिन, दलित साहित्य में यह मान्यता स्वीकारी नहीं जाती। ओम प्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं:

> 'एक दलित जिस उत्पीड़न को भोगकर दुःख, वेदना से साक्षात्कार करता है, वह आनंददायक कैसे हो सकता है? दलित साहित्य आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति करता है इसलिए उसकी श्रेष्ठता शब्दजीवी नहीं है, न शाब्दिक चमत्कारों तक सीमित है। अर्थगाम्भीर्य दलितों का स्वीकृत जीवन मूल्य है, जिस पर दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र टिका है। (वाल्मीकि 2001:50) ....दलित साहित्य में अभिव्यक्त जीवन-मूल्य हैं: समता, स्वतंत्रता, बंधुता, न्याय, अनुभव से उपजा आशय और उस आशय की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति। (वाल्मीकि 2001:50)

इस अनुभव आधारित साहित्य की अन्तर्वस्तु को कुछ इस तरह समझा जा सकता है। इस महादेश में साहित्य शताब्दियों से लिखा जाता रहा है लेकिन दलितों की ज़िंदगी को शब्दों की दुनिया में आने की अनुमति नहीं मिली| जिस आदिकवि ने क्रौंच वध पर गहन शोक से भरकर श्लोक रचा उसने शम्बूक के घर में झाँकने की जहमत नहीं उठाई। महाकवियों की अटूट शृंखला भी शूद्र और अंत्यज बस्ती को निकट से देखने से बचती रही। जब कहीं देखा तो उसे यह बस्ती 'सब नरकों की खान' लगी:

'आकरमिव सर्वनरकाणाम्' (सातवीं सदी के संस्कृत गद्यकार बाणभट्ट की कृति *कादंबरी* से उधृत; बाणभट्ट 1973:200) स्वाभाविक ही था कि उच्चकुलोद्भव साहित्यकारों को अंत्यजों की बस्ती का: 'स्मर्यमाणमपि भयंकरम्, श्रूयमाणमप्युद्वेगकरम् दृश्यमानमपि पापजनम्'- स्मरण भी भयंकर, सुनना मात्रा उद्वेगकारक और देखना मात्रा पापजनक लगे (बाणभट्ट 1973:200)। जब दलित साहित्यकारों ने 'गौरवशाली और विशाल वाङ्मय' में अपना चेहरा अनुपस्थित पाया तो सबसे पहले उन्होंने उसी की पूर्ति करनी चाही। दलित साहित्य को कई बार इसीलिए सिर्फ वेदना का साहित्य कहा जाता है। वेदना का चित्रण इस समाज के पारंपरिक साहित्य में पहले भी होता रहा है लेकिन दलित वेदना अनजानी चीज रही। इसे लोगों के सामने रखते हुए प्रखर दलित कवि मलखान सिंह लिखते हैं:

गाँव के दक्खिन में
पोखर की पार से सटा यह डोम पाड़ा है
जो दूर से देखने में
ठेठ मेंढक लगता है
और अन्दर घुसते ही
सूअर की खुडारों में बदल जाता है
यहाँ की कीचभरी गलियों में पसरी
पीली अलसाई धूप देख
मुझे हर बार लगा है कि
सूरज बीमार है या
यहाँ का प्रत्येक बाशिन्दा
और आँखों में ऊसर धरती का बौनापन
हर पल पसरा रहता है| (*सिंह 1997:12*)

इसी तरह की तमाम कविताएँ हमें दलित कवियों- ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चैहान, कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय, असंग घोष आदि के काव्य संग्रहों में मिलती हैं। दलित कहानियों ने भी इसी सच से हमारा साक्षात्कार कराया है। लेकिन सबसे विस्तृत और प्रामाणिक चित्रण हमें दलित आत्मकथनों में मिलता है। हिन्दी की कुछ प्रमुख आत्मकथाएँ हैं- *अपने-अपने पिंजरे* (दो भाग, मोहनदास नैमिशराय), *जूठन* (ओमप्रकाश वाल्मीक), *दोहरा अभिशाप* (कौशल्या वैसंत्री), *तिरस्कृत, सन्तप्त* (सूरज पाल चैहान) आदि।

वेदना की अभिव्यक्ति ज़रूरी है, लेकिन सिर्फ इतने से मकसद पूरा नहीं होता। जिस समाज-व्यवस्था ने यातना के कुएँ में ढकेला है उसे नकारना बहुत आवश्यक है। 'नकार' दलित-विमर्श का आजमाया हुआ अस्त्र है। गुलामी का नकार, यंत्रणा से नकार, समस्त सवर्णवादी मूल्यों, मान्यताओं का नकार दलित लेखनी की पहचान है। दलित रचनाकार जानता है कि उसके पूर्वजों ने चुपचाप दुःख झेला लेकिन नकारने की हिम्मत नहीं दिखा सके इसीलिए यातना की धारा अबाधित रही। *बस! बहुत हो चुका* नामक काव्य-संग्रह में ओमप्रकाश वाल्मीकि की एक कविता है- 'मेरे पुरखे'। इसकी कुछ पंक्तियाँ देखें:

तन पर कपड़े नहीं
पेट में अन्न नहीं
जख्म इतने फिर भी
वे हँसते थे
तुम्हें हँसता देखकर। *(सिंह 1997:101)*

चेतनासम्पन्न दलित नकारना जानता है। वह किसी भी कीमत पर उस मानसिकता को, उस संस्कृति को खारिज करेगा जिसने उसे अछूत बनाया है। चर्चित दलित कवि असंग घोष की पंक्तियाँ हैं:

अछूत एक घाव है
तुम्हारा ही दिया हुआ है
जो नासूर बनकर
तेरी ही सड़ी वर्णव्यवस्था से
असहनीय पीड़ा देता हुआ
लगातार रिस रहा है
इस नासूर से
पूरी तरह पाना है निजात
भले ही
काटना पड़े
आदि पुरुष के 'वही पैर'
बिना किसी संकोच के

तो मैं
काट डालूँगा
उन पैरों को
चाहे तेरा भगवान हथियार धारण कर
तेरे मिथक को बचाने
इस धरा पर
नया अवतार ही क्यों न ले ले। (*घोष 2007:57*)

जिस तरह 'वेदना' का अगला चरण 'नकार' है उसी तरह 'नकार' का अगला चरण विश्लेषण है। दलित साहित्य में वेदना का प्रभूत अंकन हुआ। फिर 'वेदना' रचने वाली ताकतों को नकारा गया। इस नकार को पुख्ता करने के लिए धर्म एवं संस्कृति पर विचार हुआ और उसकी छद्म पवित्रता पर सवाल खड़े किए गए। इन सवालों का आधार दलित चेतना है जिसने बंधनकारी परंपराओं की पहचान की। सूरजपाल चौहान ने 'क्यों विश्वास करूँ' शीर्षक कविता में कहा:

मैं तुम्हारे
झूठे धर्म पर
करता रहा गर्व
लेकिन तुम्हारा मेरे प्रति
छिपा रहा सदैव अपमान का भाव ही
तुम्हारी नैतिकता की छतरी में छेद ही छेद हैं
अनाचारों के
और पैनाए हुए हैं
धर्म की आड़ में
हिंसा के नाखून
तुम्हारे-दिलों में भरी है कलुषता
और ओछी प्रतिद्वंद्विता
फिर भला मैं
कैसे विश्वास करूँ
तुम्हारी सहिष्णुता
एवं भाईचारे की भावना पर। (*चौहान 2004:26*)

तथाकथित मुख्यधारा की हिन्दी कविता में गाँव को बहुत महिमा मंडित किया गया है। महात्मा गाँधी से प्रेरित, प्रभावित साहित्यकारों ने तो गाँव का बहुत मोहक चित्र खींचा है। गाँव में ही भारतीय संस्कृति के बसने की बात की गई है। जब दलित लेखकों ने कलम उठाई तो गाँव का एक दूसरा ही रूप सामने आया। गाँव से जुड़ी सारी लुभावनी शब्दावली झूठी लगने लगी। उसकी रोमांटिक छवि पर तकलीफदेह यथार्थ भारी पड़ा। कुछ ऐसी ही स्थिति आई पाठशालाओं, उच्च शिक्षा केंद्रों की। इनमें व्याप्त जातिवादी मानसिकता दलित साहित्य ने सार्वजनिक कर दी। इनकी पवित्रता का किला ढह गया। सब पर उँगली उठाने वाले दलित लेखकों ने अपने भीतर झाँकने की भी हिम्मत दिखाई। उनके आत्मकथनों में आत्मालोचन की प्रवृत्ति विशेष तौर पर दिखाई देती है। आत्मालोचन के तीन मुख्य बिन्दु रहे-1. वैयक्तिक स्तर पर अपनी विफलताओं, चूकों का स्वीकार, 2. आतंरिक जातिवाद की समस्या पर विचार, और 3. दलित स्त्री की तिहरी दुर्दशा पर चिंता। दलित रचनाकारों ने सबसे पहले अपने व्यक्तित्व के उन पहलुओं पर ध्यान दिया जो दलित समाज के जुड़ने तथा उसके लिए लड़ने में बाधा उत्पन्न करते हैं। समाज का एक व्यक्ति आगे बढ़ जाए और शेष दलित समुदाय पीछे रह जाए यह उन्हें मंजूर नहीं है। मलखान सिंह की कविता का एक अंश है:

इस बदबूदार छत के नीचे जागते हुए
मुझे कई बार लगा है कि
मेरी बस्ती के सभी लोग अजगर के जबड़े में फँसे
जिंदा रहने को छटपटा रहे हैं
और मैं नगर की सड़कों पर
कनकौए उड़ा रहा हूँ। *(सिंह 1997:2-13)*

दलित रचनाकार सफेदपोश बनकर सम्मान नहीं पाना चाहता है। वह अपने समाज से जुड़ा रहने का हामी है। इस उद्देश्य से वह अपने पर भी निरंतर नजर रखता है। सवर्ण समाज की आलोचना करते हुए दलित लेखकों ने अपने समुदाय की भीतरी संरचना पर भी आलोचकीय दृष्टि डाली है। दलित समुदाय के अंदर जाति के आधार पर भेदभाव होता है। आपस में रोटी का संबंध भले हो गया हो, वैवाहिक रिश्ते बनाने में अभी भी बहुत अडचनें हैं। एक दलित जाति अपने को ऊँचा समझती है, दूसरी को नीचा। दलित साहित्य में इस मुद्दे को उठाया जा रहा है और उसकी मुखालफत की जा रही है। इस प्रश्न को प्रमुखता से उठाने वालों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, सूरजपाल चैहान, सूरज बड़त्या जैसे रचनाकार हैं। उमराव सिंह जाटव के उपन्यास *थमेगा नहीं विद्रोह* में भी इस प्रश्न को उठाया गया है।

उपन्यास की एक पात्र राजो वाल्मीकि जाति की है। उसके घर जब कथा-लेखक चाय पीने से मना करता है तो राजो कहती है- 'पहली बात तो यह कि हमारे हाथ का ये खायेंगे नहीं, बहुत ऊँची जात के चमार जो ठहरे, दूसरे ये बखत क्या चाय पीने का है!' (जाटव 2008:169)

जाति के आधार पर शोषण हमारे समाज की सच्चाई है तो जेंडर के आधार पर अत्याचार भी उसी समाज की वास्तविकता है। शुरू में तो दलित लेखकों ने स्त्री-प्रश्नपर ध्यान नहीं दिया था लेकिन कालान्तर में उनकी निगाह इस ओर गई और उनकी रचनाओं में स्त्री-पीड़ा को भी स्थान मिलने लगा। दलित समाज के भीतर स्त्री के साथ होने वाला भेदभाव विशेष चर्चा का विषय तब बना जब स्वयं दलित स्त्रियों ने अपनी स्थिति का बयान करना शुरू किया। दलित स्त्री तिहरे शोषण की शिकार है। एक तरफ तो उसका स्त्री होने के नाते शोषण होता है। दूसरे जाति-विशेष में होने के कारण और तीसरे गरीबी के चलते। जिन प्रबुद्ध स्त्रियों ने दलित पितृसत्ता पर सवाल खड़े किए उनमें विमल थोरात, कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, रजत रानी मीनू, अनिता भारती आदि नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं। दलित स्त्रियों की कामना को शब्द देते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं:

मैं भागती हूँ,
सब ओर एक साथ
विद्रोहिणी बन चीखती हूँ
गूँजती है आवाज़ सब दिशाओं में|
मुझे अनंत असीम दिगंत चाहिए
छत का खुला आसमान नहीं।
आसमान की खुली छत चाहिए!
मुझे अनंत आसमान चाहिए! *(भारती 2006)*

अपनी उपेक्षा का अनुभव कर स्त्रियों ने साहित्य रचना शुरू किया। इससे दलित स्त्रियों के प्रश्न दलित-विमर्श के केन्द्र में आ गए। यह माँग भी उठी कि दलित स्त्रीवाद को विचार व लेखन की एक स्वतंत्र श्रेणी के रूप में मान्यता दी जाए। जिस मात्रा में दलित स्त्री लेखन प्रकाशित हो रहा है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि देर-सवेर दलित-स्त्रीवाद एक भिन्न कैटेगरी के रूप में स्वीकारा जाएगा। यह दलित विमर्श के गतिशील होने, समृद्ध होने का सबूत है। दलित लेखन व आंदोलन अखिल-भारतीय

स्तर पर चले। दलित आंदोलन को भारतीय आंदोलनों की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। बौद्ध मत, भक्ति आंदोलन और प्रगतिवादी आंदोलन समाज-परिवर्तन की जिस चिन्ता को लेकर चले उनकी निरंतरता दलित आंदोलन में भी दिखाई देती है। दलित-विमर्श के पास एक भविष्यदृष्टि है। उसकी कामना एक ऐसा समाज बनाने की है जिसमें वास्तविक जनतंत्र हो। जहां किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करना संभव न हो, व्यक्ति अपनी पहचान खुद बनाएं, उन पर कोई पहचान पैदा होने के साथ थोपी न जाए। हिंसा, घृणा और अपमान की जगह करुणा, विश्वास, भाईचारा और स्वतंत्रता हो। जीवन-मूल्य सार्वभौम मानवता के आधार पर पुनर्सृजित हों। लैंगिक भेदभाव का खात्मा हो।

दलित-विमर्श जिस ज़मीन पर खड़ा है उसके निर्माण में भारत की प्रतिरोधी परंपरा ने अहम भूमिका निभाई है। नास्तिकों, बौद्ध दार्शनिकों, मध्यकालीन सन्तों से लेकर आधुनिक काल के दो महान व्यक्तियों ज्योतिबा फुले, बाबा साहेब अम्बेडकर ने ब्राह्मण वर्चस्व को चुनौती दी और एक वैकल्पिक समाज का ढाँचा प्रस्तुत किया। दलित-विमर्श को यह समृद्ध विरासत हासिल हुई। दलित साहित्य ने इन स्रोतों से ऊर्जा प्राप्त की और अन्तर्दृष्टि भी। सवर्ण मानसिकता के षडयंत्रों को बेनकाब करना उसका प्रमुख उद्देश्य है। वेदना, नकार और विद्रोह इस साहित्य की पहचान है।

दलित लेखन सभी महत्वपूर्ण विधाओं में हो रहा है। उपन्यास विधा को अपेक्षाकृत कम महत्व मिला है लेकिन आत्मकथन (आत्मकथा) विधा पर इसका सबसे अधिक ज़ोर है। दलित समाज में ज्यों-ज्यों साक्षरता का प्रतिशत बढ़ रहा है, चेतना का, सजगता का स्तर सुधर रहा है त्यों-त्यों दलित लेखन को गति एवं विस्तार मिल रहा है। नित नई चुनौतियों का सामना करने, नये सरोकारों को अपनी कार्यसूची में शामिल करने और मानव मुक्ति के दूसरे आंदोलनों के साथ जुड़ने में जितनी तत्परता, समझदारी दिखाई जाएगी उतना ही इस आंदोलन के आगे बढ़ने का रास्ता खुलेगा।

<u>सन्दर्भ-सूची</u>

आलोचना ग्रन्थ

वाल्मीकि, ओमप्रकाश. 2001. *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र.* दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन|

लिंबाले, शरणकुमार. 2005. *दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन|

भारती, कंवल. 2004. *दलित विमर्श की भूमिका.* इलाहाबाद: इतिहासबोध प्रकाशन|

'मीनू', रजतरानी. 1996. *नवें दशक की हिन्दी दलित कविता.* नई दिल्ली: दलित साहित्य प्रकाशन संस्था|

कुमार, अजय. 2006. *दलित पैंथर आंदोलन.* दिल्ली: बुक सेंटर|

मून, वसन्त. 2006. *डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर.* दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया|

मिश्र, सं. शिव बाबू. 2006. *जूठन: एक विमर्श.* दिल्ली: शब्द सृष्टि प्रकाशन|

थोरात, विमल. 2008. *दलित-साहित्य का स्त्रीवादी स्वर.* नई दिल्ली: विमल अनामिका प्रकाशन|

सिंह, हरपाल 'अरूष'. 2005. *दलित साहित्य की भूमिका.* मथुरा: जवाहर पुस्तकालय|

'अम्बेडकर से दुबारा मुलाकात', आर्यकल्प पत्रिका का विशेषांक, वाराणसी, 2008।

काव्य संग्रह

सिंह, मलखान. 1997. *सुनो ब्राह्मण.* रामपुर (उ.प्र.): बोधिसत्व प्रकाशन|

वाल्मीकि, ओमप्रकाश. 2003. *बस्स! बहुत हो चुका.* दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन|

भारती, कंवल. □□. 2006. *दलित निर्वाचित कविताएं.* इलाहाबाद: इतिहासबोध प्रकाशन|

चौहान, सूरजपाल. 2004. *क्यों विश्वास करूं.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन|

---. 2007. *कब होगी वह भोर.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन|

घोष, असंग. 2007. *हम गवाही देंगे.* दिल्ली: शिल्पायन|

आत्मकथन

वाल्मीकि, ओमप्रकाश. 1997. *जूठन.* नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन|

---. 2001. *कथा साहित्य.* दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन|

---. 2003. *घुसपैठिए.* दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन|

नैमिशराय, मोहनदास. 1995. *अपने-अपने पिंजरे* (दो भाग). नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन|

बैसंत्री, कौशल्या. 1999. *दोहरा अभिशाप.* दिल्ली: प्रकाशन|

चौहान, सूरजपाल. 2002. *तिरस्कृत.* गाज़ियाबाद: अनुभव प्रकाशन|

––– 2001. *हैरी कब आएगा.* गाज़ियाबाद: अनुभव प्रकाश।

प्रसाद, माता. 2002. *झोपड़ी से राजभवन.* नई दिल्ली: नमन प्रकाशन।

टाकभौरे, सुशीला. 2006. *संघर्ष.* नागपुर: शरद प्रकाशन।

जाटव, उमराव सिंह. 2008. *थमेगा नहीं विद्रोह.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन|

अन्य संदर्भ ग्रंथ

बाणभट्ट. 1973. *कादम्बरी.* वाराणसी: चौखंभा प्रकाशन |